तुलसी की भक्तिपद्धति

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हम्मीर के समय में चारणों का वीरगाथा काल समाप्त होते ही हिन्दी कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक् संचार के लिए वह स्वतन्त्र क्षेत्र न रह गया; देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान् की शक्ति और दया- दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य काल था जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानन्द और वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतबन्, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबन्ध-रचना द्वारा प्रेमपथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बहला ।

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन स्वरूप को लेकर चला था; अर्थात् प्राचीन भागवत सम्प्रदाय के नवीन विकास का ही अनुयायी था और दूसरा विदेशी परम्परा का अनुयायी, लोकधर्म से उदासीन तथा समाजव्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था । यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराश्य की विषम स्थिति में उत्पन्न हुआ, उसी के सामंजस्यसाधन में सन्तुष्ट रहा। उसे भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ जितने की मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के महात्माओं का भगवान् के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ, जो अत्याचारियों का दमन करनेवाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करनेवाला है। इससे उन्हें भारतीय भक्तिमार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा, जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनता हुई ।

प्रथम वर्ग के प्राचीन परम्परावाले भक्त वेदशास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान् का लोक-धर्मरक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। इस भक्ति का स्वरूप नैराश्यमय नहीं है; इसमें उस शक्ति का बीज है जो किसी जाति को फिर उठाकर खड़ा कर सकता है। सूर और तुलसी ने इसी भक्ति के सुधारस से सींचकर मुरझाते हुए हिन्दू जीवन को फिर से हरा किया। पहले भगवान् का हँसता खेलता रूप दिखाकर सूरदास ने हिन्दू जाति की नैराश्यजनित खिन्नता हटायी जिससे जीवन में प्रफुल्लता आ गयी। पीछे तुलसीदासजी ने भगवान् का लोक-व्यापारव्यापी मंगलमय रूप दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। अब हिन्दू जाति निराश नहीं है।

घोर नैराश्य के समय हिन्दू जाति ने जिस भक्ति का आश्रय लिया, उसी की शक्ति से उसकी रक्षा हुई। भक्ति के सच्चे उद्गार ने ही हमारी भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की और मानव जीवन की सरसता दिखाई। इस भक्ति के विकास के साथ ही साथ इसकी अभिव्यंजना करनेवाली वाणी का विकास भी स्वाभाविक था । अतः सूर और तुलसी के समय हिन्दी कविता की जो समृद्धि दिखाई देती है, उसका कारण शाही दरबार की कद्रदानी नहीं है, बल्कि शाही दरबार की

कद्रदानी का कारण वह समृद्धि है। उस समृद्धि काल के कारण हैं, सूर-तुलसी; और सूर तुलसी का उत्पादक है इस भक्ति का क्रमशः विकास जिसके अवलम्बन थे राम और कृष्ण । लोक मानस के समक्ष राम और कृष्ण जब से फिर से स्पष्ट करके रखे गये, तभी से वह उनके एक एक स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ उसकी व्यंजना में लग गया। यहाँ तक कि सूरदास तक आते आते भगवान् की लोकरंजनकारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गयी। अन्त में उनकी अखिल जीवनवृत्ति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करनेवाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ ।

इस दिव्य वाणी का मंजु घोष घर घर क्या, एक एक हिन्दू के हृदय तक पहुँच गया कि भगवान् दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। यही वाणी हिन्दू जाति को नया जीवनदान दे सकती थी। उस समय यह कहना कि ईश्वर सबसे दूर है, निर्गुण है, निरंजन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गड्ढे में ढकेलता । ईश्वर बिना पैर के चल सकता है, बिना हाथ के मार सकता है और सहारा दे सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीनदुखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उनकी आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की पूर्ण तृप्ति हो सकती है और लोकधर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है। इस भावना का हिन्दू हृदय से बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ हमें दिन दिन बढ़ता हुआ अत्याचार दिखाई पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह 'रावणत्व' की सीमा पर पहुँचेगा और 'रामत्व' का आविर्भाव होगा तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौन्दर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिम्ब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवनव्यापकता ने तुलसी की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पंडित सबके हृदय और कंठ में सब दिन के लिए बसा दिया। किसी श्रेणी का हिन्दू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है-सम्पत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनन्दोत्सव में, जहाँ देखिये, वहाँ राम। गोस्वामीजी ने उत्तरापथ के समस्त हिन्दू जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामीजी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी के प्रभाव से आज भी हिन्दू भक्त अवसर के अनुसार सौन्दर्य पर मुग्ध होता है, महत्त्व पर श्रद्धा करता है, शील की ओर प्रवृत्त होता है, सन्मार्ग पर पैर रखता है, विपत्ति में धैर्य धारण करता है, कठिन कर्म में उत्साहित होता है, दया से आर्द्र होता है, बुराई पर ग्लानि करता है, शिष्टता का अवलम्बन करता है और मानवजीवन के महत्त्व का अनुभव करता है ।

जिस विदेशी परम्परा की भक्ति का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके कारण विशुद्ध भारतीय भक्तिमार्ग का स्वरूप बहुत कुछ आच्छन्न हो चला था । गोस्वामीजी की सूक्ष्म दृष्टि किस प्रकार इस बात पर पड़ी यह आगे दिखाया जायेगा। भारतीय भक्तिमार्ग और विदेशी भक्तिमार्ग में जो स्वरूपभेद है उसका संक्षेप में निरूपण हम यहाँ पर कर देना चाहते हैं।

हमारे यहाँ ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग तीनों अलग-अलग रहे हैं। ज्ञानमार्ग शुद्ध बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया अर्थात् चिन्तनपद्धति का आश्रय लेता है; भक्तिमार्ग शुद्ध हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों अर्थात् भावों को लेकर चलता है; योगमार्ग चित्त की वृत्तियों को अनेक प्रकार के अभ्यासों द्वारा अस्वाभाविक (एबनार्मल) बनाकर अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों के बीच होता हुआ अन्तःस्थ ईश्वर तक पहुँचना चाहता है। इस स्पष्ट विभाग के कारण भारतीय परम्परा का भक्त न तो पारमार्थिक ज्ञान का दावा करता है, न अलौकिक सिद्धि या रहस्यदर्शन

का । तत्वज्ञान के अधिकारी तर्कबुद्धिसम्पन्न चिन्तनशील दार्शनिक ही माने जाते थे। सूर और तुलसी के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जाता है कि उन्होंने भगवान् के दर्शन पाए थे', पर यह कोई नहीं कहता कि शंकराचार्य और रामानुज भी ज्ञान की जिस सीमा तक नहीं पहुँचे उस सीमा तक वे पहुँचे थे।

भारतीय पद्धति का व्यक्ति यदि झूठा दावा कर सकता है तो यही कि मैं भगवान् के ही प्रेम में मग्न रहता हूँ; यह नहीं कि जो बात कोई नहीं जानता वह मैं जाने बैठा हूँ। प्रेम के इस झूठे दावे से, इस प्रकार के पाखंड से, अज्ञान के अनिष्ट प्रचार की आशंका नहीं ।

भारतीय भक्त का प्रेममार्ग स्वाभाविक और सीधा है जिस पर चलना सब जानते हैं, चाहे चलें न। वह ऐसा नहीं जिसे कोई विरला ही जानता हो या पा सकता हो। वह तो संसार में सबके लिए ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल-

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह ।

अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह ।।

सरलता इस मार्ग का नित्य लक्षण है-मन की सरलता, वचन की सरलता और कर्म की सरलता-

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति ।

तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति ।।

भारतीय परम्परा के भक्त में दुराव, छिपाव की प्रवृत्ति नहीं होती। उसे यह प्रकट करना नहीं रहता कि जो बातें मैं जानता हूँ उन्हें कोई विरला ही समझ सकता है, इससे अपनी वाणी को अटपटी और रहस्यमयी बनाने की आवश्यकता उसे कभी नहीं होती। वह सीधी-सादी सामान्य बात को भी रूपकों में लपेटकर पहेली बनाने और असंबद्धता के साथ कहने नहीं जाता। बात यह है कि वह अपना प्रेम किसी अज्ञात के प्रति नहीं बताता । उसका उपास्य ज्ञात है। उसके निकट ईश्वर ज्ञात और अज्ञात दोनों है। जितना अज्ञात है उसे तो वह परमार्थान्वेषी दार्शनिकों के चिन्तन के लिए छोड़ देता है और जितना ज्ञात है उसी को लेकर वह प्रेम में लीन रहता है। तुलसी कहते हैं कि जिसे हम जानेंगे, वही हमें जानेगा-

जाने जानत, जोइए, बिनु जाने को जान?

पर पाश्चात्य दृष्टि में भक्तिमार्ग 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत ही दिखाई पड़ता है। बात यह है कि पैगंबरी (यहूदी, ईसाई, इस्लाम) मतों में धर्मव्यवस्था के भीतर तत्वचिन्तन या ज्ञानकांड के लिए स्थान न होने के कारण आध्यात्मिक ज्ञानोपलब्धि रहस्यात्मक ढंग से (स्वप्न, सन्देश, छायादर्शन आदि के द्वारा) ही माननी पड़ती थी। पहुँचे हुए भक्तों और सन्तों (सेंट्स) के सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा थी कि जब वे आवेश की दशा में मूर्च्छित या बाह्यज्ञानशून्य होते हैं तब भीतर ही भीतर उनका 'ईश्वर के साथ संयोग' होता है और वे छायारूप में बहुत सी बातें देखते हैं। ईसाई धर्म में जब स्थूल एकेश्वरवाद (जो वास्तव में देववाद ही है) के स्थान पर प्राचीन आर्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित 'सर्ववाद' (पेनथीज्म) लेने की आवश्यकता हुई तब वह बुद्धि द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के रूप में तो लिया नहीं जा सकता था, ईश्वर द्वारा रहस्यात्मक ढंग से प्रेषित ज्ञान के रूप में ही लिया जा सकता था। इससे परमात्मा और जीवात्मा के

सम्बन्ध की वे ही बातें, जो यूनान या भारत के प्राचीन दार्शनिक कह गये थे, विलक्षण रूपकों द्वारा कुछ दुर्बोध और स्पष्ट बनाकर सन्त लोग कहा करते थे। अस्पष्टता और असंबद्धता इसलिए आवश्यक थी कि तथ्यों का साक्षात्कार छायारूप से ही माना जाता था। इस प्रकार अरब, फारस तथा योरप में भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद का चलन हुआ ।

भारत में धर्म के भीतर भी ज्ञान की प्रकृत पद्धति और प्रेम की प्रकृत पद्धति स्वीकृत थी अतः भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद की कोई आवश्यकता न हुई। साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्यवाद का अलबत योग, तंत्र और रसायन के रूप में विकास हुआ। इसके विकास में बौद्धों ने बहुत कुछ योग दिया था। हठयोग की परम्परा बौद्धों की ही थी । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ ने उसे शैव रूप दिया। गोरखपंथ का प्रचार राजपूताने की ओर अधिक हुआ, इसी से उस पंथ के ग्रन्थ राजस्थानी भाषा में लिखे गये हैं । मुसलमानी शासन के प्रारम्भ काल में इसी पंथ के साधु उत्तरीय भारत में अधिक घूमते दिखाई देते थे जिनकी रहस्यभरी बातें हिन्दू और मुसलमान दोनों सुनते थे। मुसलमान अधिकतर खड़ी बोली बोलते थे, इससे इस पंथ के रमते साधु राजस्थानी मिली खड़ी बोली का व्यवहार करने लगे। इस प्रकार एक सामान्य सधुक्कड़ी भाषा बनी जिसका व्यवहार कबीर, दादू और निर्गुणी सन्तों ने किया।

अरब और फारस का भावात्मक रहस्यवाद लेकर जब सूफी हिन्दुस्तान में आये तब उन्हें यही रहस्योन्मुख सम्प्रदाय मिला। इसी से उन्होंने हठयोग की बातों का बड़ी उत्कंठा के साथ अपने सम्प्रदाय में समावेश किया। जायसी आदि सूफी कवियों की पुस्तकों में योग और रसायन की बहुत सी बातें बिखरी मिलती हैं। रहस्यवादी सूफियों के प्रेमतत्त्व के साथ वेदान्त के ज्ञानमार्ग की कुछ बातें जोड़कर जो निर्गुणपंथ चला उसमें भी 'इड़ा, पिंगला, सुषमन नारी' की बराबर चर्चा रही।

सूफियों ने हठयोगियों की जिन बातों को अपने मेल में देखा वे ये थीं-

1. रहस्य की प्रवृत्ति ।

2. ईश्वर को केवल मन के भीतर समझना और ढूँढ़ना ।

3. बाहरी पूजा और उपासना का त्याग ।

ये तीनों बातें भारतीय भक्तिमार्ग से मेल खानेवाली नहीं थीं। जैसा कि ऊपर दिखा आये हैं, भारतीय भक्तिपद्धति 'रहस्य' की प्रवृत्ति को भक्ति की सच्ची भावना में बाधक समझती है। भारतीय परम्परा का भक्त अपने उपास्य को बाहर लोक के बीच प्रतिष्ठित करके देखता है, अपने हृदय के कोने में नहीं। वह ध्यान भी करता है तो जगत् के बीच अपनी प्रत्यक्ष कला का प्रकाश करते हुए व्यक्त ईश्वर का । तुलसी का वन के बीच राम का दर्शन करना प्रसिद्ध है, हृदय के भीतर नहीं। इसी प्रकार भक्तिभावना में लीन होने पर वह सब कुछ 'राममय' देखता है और अपने से बाहर सबकी पूजा करना चाहता है।

हठयोगियों की बातें भक्ति की सच्ची भावना में किस प्रकार बाधा पहुँचानेवाली थीं इस बात को लोकदर्शी गोस्वामीजी की सूक्ष्म दृष्टि पहचान गयी। उनके समय में गोरखपंथी साधु योग की रहस्यमयी बातों का जो प्रचार कर रहे थे उसके कारण उन्हें जनता के हृदय से भक्तिभावना भागती दिखाई पड़ी-

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,

निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है ।

'ईश्वर को मन के भीतर ढूंढ़ो' इस वाक्य ने भी पाखंड का बड़ा चौड़ा रास्ता खोला है। जो अपने को ज्ञानी प्रकट करना चाहते हैं वे प्रायः कहा करते हैं कि 'ईश्वर को अपने भीतर देखो।' गोस्वामीजी ललकारकर कहते हैं कि भीतर ही क्यों देखें, बाहर क्यों न देखें-

अन्तर्जामिहु तें बड़ बारहजामी हैं राम जो नाम लिए तें।

पैज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें ।।

गोस्वामीजी का पक्ष है यदि मनुष्य के छोटे से अन्तःकरण के भीतर ईश्वर दिखाई भी पड़े तो भी अखिल विश्व के बीच अपनी विभूतियों से भासित होनेवाला ईश्वर उससे कहीं पूर्ण और कल्याणकारी है। हमारी बद्ध और संकुचित आत्मा केवल द्रष्टा हो सकती है, दृश्य नहीं । अतः यदि परमात्मा को, भगवान् को, देखना है तो उन्हें व्यक्त जगत् के सम्बन्ध से देखना चाहिए। इस मध्यस्थ के बिना आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त ही नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि भारतीय भक्ति मार्ग व्यक्तिकल्याण और लोककल्याण दोनों के लिए है। वह लोक या जगत् को छोड़कर नहीं चल सकता। भक्तिमार्ग का सिद्धान्त है भगवान् को बाहर जगत् में देखना । 'मन के भीतर देखना' यह योगमार्ग का सिद्धान्त है, भक्तिमार्ग का नहीं । इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिए ।

भक्ति रागात्मिका वृत्ति है, हृदय का एक भाव है। प्रेमभाव उसी स्वरूप और उसी गुणसमूह पर टिक सकता है जो दृश्य जगत् में हमें आकर्षित करता है। इसी जगत् के बीच भासित होता हुआ स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का आलंबन हो सकता है। इस जगत् से सर्वथा असम्बद्ध किसी अव्यक्त सत्ता से प्रेम करना मनोविज्ञान के अनुसार सर्वथा असम्भव है। भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर संतुष्ट नहीं हो सकती। वह ज्ञातृपक्ष और ज्ञेयपक्ष दोनों को लेकर चलती है।

बौद्धों की महायान शाखा का एक और अवशिष्ट 'अलखिया सम्प्रदाय' के नाम से उड़ीसा तथा उत्तरीय भारत के अनेक भागों में घूमता दिखाई पड़ता था यह भी महायान शाखा के बौद्धों के समान अन्तःकरण के मन, बुद्धि, विवेक हेतु और चैतन्य-ये पाँच भेद बतलाता था और शून्य का ध्यान करने को कहता था । इस सम्प्रदाय का 'विष्णुगर्भपुराण' नामक ग्रन्थ उड़िया भाषा में है जिसका सम्पादन प्रो. आर्तवल्लभ महन्ती ने किया है। उन्होंने इसका रचनाकाल 1550 ई. के पहले स्थिर किया है। इस पुस्तक के अनुसार विश्व के चारों ओर 'अलख' ही का प्रकाश हो रहा है। अलख ही विष्णु है जिससे निराकार की उत्पत्ति हुई। सारी सृष्टि अलख के गर्भ में रहती है। अलख अज्ञेय है। चारों वेद उसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते । अलख से प्रादुर्भूत निराकार तुरीयावस्था में रहता है और उसी दशा में उससे ज्योति की उत्पत्ति होती है। यह सृष्टितत्व बौद्धों की महायान शाखा का है । 'अलख' सम्प्रदाय के साधु अपने को बड़े भारी रहस्यदर्शी योगी और 'अलख' को लखनेवाले प्रकट किया करते थे। ऐसा ही एक साधु गोस्वामीजी के सामने आकर 'अलख', 'अलख' करने लगा इस पर उन्होंने उसे इस प्रकार फटकारा-

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच ।

तुलसी अलखहि का लखै रामनाम जपु नीच । ।

हम अपने साथ जगत् का जो सम्बन्ध अनुभव करते हैं उसी के मूल में भगवान् की सत्ता हमें देखनी चाहिए। 'जासों सब नातो फुरै' उसी को हमें पहचानना चाहिए। जगत् के साथ हमारे जितने सम्बन्ध हैं सब राम के सम्बन्ध से हैं-

'नाते सबै राम के मनियत सुहृद मुसेव्य जहाँ लौं ।'

माता-पिता जिस स्नेह से हमारा लालनपोषण करते हैं, भाईबंधु, इष्टमित्र जिस स्नेह से हमारा हित करते हैं, उसे राम ही का स्नेह समझना चाहिए ।

जिन जिन वृत्तियों से लोक की रक्षा और रंजन होता है उन सबका समाहार अपनी परमावस्था को पहुँचा हुआ जहाँ दिखाई पड़े, वहाँ भगवान् की उतनी कला का पूर्ण प्रकाश समझकर जितनी से मनुष्य को प्रयोजन है-अनन्त पुरुषोत्तम को उतनी मर्यादा के भीतर देखकर जितनी से लोक का परिचालन होता है-सिर झुकाना मनुष्य होने का परिचय देना है, पूरी आदमियत का दावा करना है। इस व्यवहार क्षेत्र से परे, नामरूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व है वह प्रेम या भक्ति का विषय नहीं, वह चिन्तन का विषय है । वह इस प्रकार लक्षित नहीं कि हमारे भावों का, हमारी मनोवृत्तियों का परम लक्ष्य हो सके । अतः अलक्ष्य का बहाना करके जितना लक्ष्य है उसकी ओर भी ध्यान न देना धर्म से भागना है।

गोस्वामीजी पूरे लोकदर्शी थे। लोकधर्म पर आघात करनेवाली जिन बातों का प्रचार उनके समय में दिखाई पड़ा उनकी सूक्ष्म दृष्टि उन पर पूर्ण रूप से पड़ी । कबीर आदि द्वारा प्रवर्तित निर्गुण पंथ की लोकधर्म से विमुख करनेवाली वाणी का किस खरेपन के साथ उन्होंने विरोध किया इसका वर्णन 'लोकधर्म' के अन्तर्गत किया जायेगा ।

भक्ति में बड़ी भारी शर्त है निष्कामता की। सच्ची भक्ति में लेनदेन का भाव नहीं होता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिए भक्ति का आनन्द ही उसका फल है। वह शक्ति, सौन्दर्य और शील के अनन्त समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है। तुलसी इसी प्रकार के भक्त थे। कहते हैं कि वे एक बार वृन्दावन गये थे। वहाँ किसी कृष्णोपासक ने उन्हें छेड़कर कहा- 'आपके राम तो बारह कला के अवतार हैं। आप श्रीकृष्ण की भक्ति क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं?' गोस्वामीजी बड़े भोलेपन के साथ बोले-'हमारे राम अवतार भी हैं, यह हमें आज मालूम हुआ।' राम विष्णु के अवतार हैं इससे उत्तम फल या उत्तम गति दे सकते हैं, बुद्धि के इस निर्णय पर तुलसी राम से भक्ति करने लगे हों, यह बात नहीं है। राम तुलसी को अच्छे लगते हैं, उनके प्रेम का यदि कोई कारण है। तो यही है। इसी भाव को उन्होंने इस दोहे में व्यंजित किया है-

जौ जगदीस तौ अति भलो, जौ महीस तौ भाग ।

तुलसी चाहत जनम भरि, राम चरन अनुराग ।।

तुलसी को राम का लोकरंजक रूप वैसा ही प्रिय लगता है जैसा चातक को मेघ का लोकसुखदायी रूप।

अबतक जो कुछ कहा गया है उससे यह सिद्ध है कि शुद्ध भारतीय भक्ति-मार्ग का 'रहस्यवाद ' से कोई सम्बन्ध नहीं। तुलसी पूर्ण रूप में इसी भारतीय भक्तिमार्ग के अनुयायी थे अतः उनकी रचना को रहस्यवाद कहना हिन्दुस्तान को अरब या विलायत कहना है। कृष्णभक्ति शाखा का स्वरूप आगे चलकर अवश्य ऐसा हुआ जिसमें कहीं-कहीं रहस्यवाद की गुंजाइश हुई। अपने मूल रूप में भागवत सम्प्रदाय भी विशुद्ध रहा। श्रीकृष्ण का लोकरक्षक और लोकरंजक रूप गीता में और भागवत पुराण में स्फुरित है। पर धीरे-धीरे वह स्वरूप आवृत होता गया और प्रेम का आलंबन मधुर रूप ही शेष रह गया। वल्लभाचार्यजी ने स्पष्ट शब्दों में उनका लोकसंग्रही रूप हटाया। उन्होंने लोक और वेद दोनों की मर्यादा का अतिक्रमण अपने सम्प्रदाय में आवश्यक ठहराया। लोक को परे फेंकने से कृष्णभक्ति व्यक्तिगत एकान्त प्रेमसाधना के रूप में ही रह गयी। इतना होने पर भी सूरदास, नन्ददास आदि महाकवियों ने कृष्ण को इसी जगत् के बीच वृन्दावन में रखकर देखा। उन्होंने रहस्यवाद का रंग अपनी कविता पर नहीं चढ़ाया ।

मुसलमानी अमलदारी में सूफी पीरों और फकीरों का पूरा दौरदौरा रहा। लोकसंग्रह का भाव लिये रहने के कारण रामभक्ति शाखा पर तो उनका असर न पड़ा। पर, जैसा कि कह आये हैं, कृष्णभक्ति शाखा लोक को परे फेंककर व्यक्तिगत एकान्तसाधना का रंग पकड़ चुकी थी। इससे उसके कई प्रसिद्ध भक्तों पर सूफियों का पूरा प्रभाव पड़ा। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। जैसे सूफी कव्वाल गाते गाते 'हाल' की दशा में हो जाते हैं वैसे ही महाप्रभु की मंडली भी नाचते नाचते मूर्च्छित हो जाती थी। यह मूर्च्छा रहस्य-संक्रमण का एक लक्षण है। इसी प्रकार मीराबाई भी 'लोकलाज खोकर' अपने प्रियतम कृष्ण के प्रेम में मतवाली और विरह में व्याकुल रहा करती थी। नागरीदासजी भी इश्क का प्याला पीकर इसी प्रकार झूमा करते थे । यहीं तक नहीं, माधुर्यभाव की उपासना लेकर कई प्रकार के सखी सम्प्रदाय भी चले जिनमें समय समय पर प्रियतम के साथ संयोग हुआ करता है। एक कृष्णोपासक सम्प्रदाय स्वामी प्राणनाथजी ने चलाया जो न तो द्वारका, वृन्दावन आदि तीर्थों को कोई महत्त्व देता है और न मन्दिरों में श्रीकृष्ण की मूर्तियों का दर्शन करने जाता है। वह इस वृन्दावन और इसमें विहार करनेवाले कृष्ण को गोलोक की नित्यलीला की एक छाया मात्र मानता है।

जिस प्रकार मद, प्याला, मूर्छा और उन्माद सूफी रहस्यवादियों का एक लक्षण है उसी प्रकार प्रियतम ईश्वर के विरह की बहुत बढ़ीचढ़ी भाषा में व्यंजना करना भी सूफी कवियों की एक रूढ़ि है। यह रूढ़ि भारतीय भक्त कवियों के विनय में न पाई जायेगी। भारतीय भक्त तो अपनी व्यक्तिगत सत्ता के बाहर सर्वत्र भगवान् का नित्य लीलाक्षेत्र देखता है। उसके लिए विरह कैसा ?

अपनी भक्तिपद्धति के भीतर गोस्वामीजी ने किस प्रकार शील और सदाचार को भी एक आवश्यक अंग के रूप में लिया है, यह बात 'शीलसाधना और भक्ति' के अन्तर्गत दिखाई जायेगी।